

जैन दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य और कथन की सत्यता का प्रश्न

समकालीन पाश्चात्य दर्शन में भाषा-विश्लेषण का दर्शन की एक स्वतन्त्र विधा के रूप में विकास हुआ और आज वह एक सबसे प्रभावशाली दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में अपना अस्तित्व रखता है। प्रस्तुत शोधनिबन्ध का उद्देश्य मात्र यह दिखाना है कि पाश्चात्य दर्शन की ये विधाएँ जैन दर्शन में सहस्राधिक वर्ष पूर्व किस रूप में चर्चित रही हैं और उनकी समकालीन पाश्चात्य दर्शन से किस सीमा तक निकटता है।

ज्ञान की सत्यता का प्रश्न

सामान्यतया ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का अर्थ ज्ञान की ज्ञेय विषय के साथ समरूपता या संवादिता है। यद्यपि, ज्ञान की सत्यता के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण स्वयं ज्ञान का संगतिपूर्ण होना भी है, क्योंकि जो ज्ञान आन्तरिक विरोध से युक्त है, वह भी असत्य माना गया है। जैन दर्शन में वस्तु स्वरूप को अपने यथार्थ रूप में, अर्थात् जैसा वह है उस रूप में जानना अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय (प्रमेय) से अव्यभिचारी होना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है।^१ यहाँ यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि ज्ञान की इस प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय कैसे होता है? क्या ज्ञान स्वयं ही अपनी सत्यता का बोध देता है या उसके लिए किसी अन्य ज्ञान (ज्ञानान्तर ज्ञान) की अपेक्षा होती है? अथवा ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए ज्ञान और ज्ञेय की संवादिता (अनुरूपता) को देखना होता है? पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान की सत्यता के प्रश्न को लेकर तीन प्रकार की अवधारणाएँ हैं- (५) संवादिता सिद्धान्त; (२) संगति सिद्धान्त और (३) उपयोगितावादी (अर्थक्रियाकारी) सिद्धान्त। भारतीय दर्शन में वह संवादिता का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद के रूप में और संगति-सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्यवाद के रूप में स्वीकृत है। अर्थक्रियाकारी सिद्धान्त को परतः प्रामाण्यवाद की ही एक विशेष विधा कहा जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में किसी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को न अपनाकर माना कि ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। यद्यपि, जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति का आधार (कसौटी) ज्ञान स्वयं न होकर ज्ञेय है। प्रमाणनयतत्वालोक में वादिदेवसूरि ने कहा है कि “तदुभयमुत्पत्तौ परत एव” अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि ज्ञान की प्रामाण्यता और अप्रामाण्यता का आधार ज्ञान न होकर ज्ञेय है और ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। तथापि अभ्यास दशा में ज्ञान की सत्यता का निश्चय अर्थात् ज्ञप्ति तो स्वतः अर्थात् स्वयं ज्ञान के द्वारा ही हो जाती है, जबकि अनभ्यास दशा में उसका निश्चय परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है।^२ यद्यपि, वादिदेवसूरि के द्वारा ज्ञान की सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) को एकान्तः परतः मान लेना समुचित प्रतीत नहीं होता है।

गणितीय ज्ञान और परिभाषाओं के सन्दर्भ, सत्यता की कसौटी ज्ञान की आन्तरिक संगति ही होती है। वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, स्वतः प्रामाण्य हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही दृष्टि से स्वतः ही प्रामाण्य है। जब हम यह मान लेते हैं कि निश्चय दृष्टि से सर्वज्ञ अपने को ही जानता है, तो हमें उसके ज्ञान के सन्दर्भ में उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को स्वतः मानना होगा क्योंकि ज्ञान कथञ्चित् रूप से ज्ञेय से अभिन्न भी होता है जैसे स्व-संवेदन।

वस्तुगत ज्ञान में भी सत्यता की कसौटी उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों को स्वतः और परतः दोनों माना जा सकता है। जब कोई यह सन्देश कहे कि “आज अमुक प्रसूतिगृह में एक बन्ध्या ने पुत्र का प्रसव किया” तो हम इस ज्ञान के मिथ्यात्व के निर्णय के लिए किसी बाहरी कसौटी का आधार न लेकर इसकी आन्तरिक असंगति के आधार पर ही इसके मिथ्यापन को जान लेते हैं। इसी प्रकार “त्रिभुज तीन भुजाओं से युक्त आकृति है”- इस ज्ञान की सत्यता इसकी आन्तरिक संगति पर ही निर्भर करती है। अतः ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति (कसौटी) और ज्ञान के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही ज्ञान के स्वरूप या प्रकृति के आधार पर स्वतः अथवा परतः और दोनों प्रकार से हो सकती है।

सकल ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और आत्मगत ज्ञान में ज्ञान की प्रामाण्यता का निश्चय स्वतः होगा, जबकि विकल ज्ञान, अपूर्ण (आंशिक) ज्ञान या नयज्ञान और वस्तुगत ज्ञान में वह निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाले ज्ञान में उनके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा, जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रामाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से सम्भव है। पुनः सापेक्ष ज्ञान में सत्यता का निश्चय परतः और स्वतः दोनों प्रकार से और निरपेक्ष ज्ञान में स्वतः होगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही स्वतः और सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की उत्पत्ति परतः और ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों रूपों में हो सकती है। अतः वादिदेवसूरि का यह कथन सामान्य व्यक्ति के ज्ञान को लेकर ही है, सर्वज्ञ के ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं है। सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन पूर्व अनुभव दशा में स्वतः और पूर्व अनुभव में अभाव में परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है, यद्यपि पूर्व अनुभव भी ज्ञान का ही रूप है अतः उसे भी अपेक्षा विशेष से परतः कहा जा सकता है जहाँ तक की ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है, स्वानुभव को छोड़कर वह परतः ही होती है, क्योंकि वह ज्ञेय अर्थात् “पर” पर निर्भर है। अतः ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति या कसौटी को परतः ही माना गया है। जहाँ तक कथन की सत्यता का प्रश्न है, वह ज्ञान की सत्यता से भिन्न है।

कथन की सत्यता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि मानव अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। भाषा शब्द प्रतीकों और सार्थक ध्वनि संकेतों का एक सुव्यवस्थित रूप है। वस्तुतः हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए शब्द प्रतीक बना लिये हैं। इन्हीं शब्द प्रतीकों एवं ध्वनि संकेतों के माध्यम से हम अपने विचारों, अनुभूतियों और भावनाओं का सम्प्रेषण करते हैं।

यहाँ मूल प्रश्न यह है कि हमारी इस भाषायी अभिव्यक्ति को हम किस सीमा तक सत्यता का अनुसांगिक मान सकते हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भाषा और उसकी सत्यता के प्रश्न को लेकर एक पूरा दार्शनिक सम्प्रदाय ही बन गया है। भाषा और सत्य का सम्बन्ध आज के युग का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है किसी कथन की सत्यता या असत्यता को निर्धारित करने का आधार आज सत्यापन का सिद्धान्त है। समकालीन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जिन कथनों का सत्यापन या मिथ्यापन संभव है, वे ही कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं। शेष कथनों का सत्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ए० जे० एयर ने अपनी पुस्तक में इस समस्या को उठाया है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले हमें इस बात का विचार कर लेना होगा कि कथन के सत्यापन से हमारा क्या तात्पर्य है। कोई भी कथन जब इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या अपुष्ट किया जा सकता है, तब ही वह सत्यापनीय कहलाता है। जिन कथनों को हम इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या खण्डित नहीं कर सकते, वे असत्यापनीय होते हैं। किन्तु, इन दोनों प्रकार के कथनों के बीच कुछ ऐसे भी कथन होते हैं जो न सत्यापनीय होते हैं और असत्यापनीय। उदाहरण के लिए मंगल ग्रह में जीव के पाये जाने की संभावना है। यद्यपि यह कथन वर्तमान में सत्यापनीय नहीं है, किन्तु यह संभव है कि इसे भविष्य में पुष्ट या खण्डित किया जा सकता है। अतः वर्तमान में यह न तो सत्यापनीय है और न तो असत्यापनीय। किन्तु, संभावना की दृष्टि से इसे सत्यापनीय माना जा सकता है। भगवती-आराधना में सत्य का एक रूप संभावना सत्य माना गया है।

वस्तुतः कौन-सा कथन सत्य है, इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि उसका सत्यापन या मिथ्यापन संभव है या नहीं है। वस्तुतः जिसे हम सत्यापन या मिथ्यापन कहते हैं, वह भी उस अभिकथन और उसमें वर्णित तथ्य की संवादिता या अनुरूपता पर निर्भर करता है, जिसे जैन परम्परा में परतः प्रामाण्य कहा जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि कोई भी कथन कथित तथ्य का संवादी (अनुरूप) होगा तो वह सत्य होगा और विसंवादी (विपरीत) होगा तो वह असत्य होगा। यद्यपि, वह भी स्पष्ट है कि कोई भी कथन किसी तथ्य की समग्र अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से यह माना था कि प्रत्येक कथन वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में हमें आंशिक जानकारी ही प्रस्तुत करता है। अतः प्रत्येक कथन वस्तु के सन्दर्भ में आंशिक सत्य का ही प्रतिपादक होगा। यहाँ भाषा की अभिव्यक्ति,

सामर्थ्य की सीमितता को भी हमें ध्यान में रखना होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भाषा, तथ्य नहीं, तथ्य की संकेतक मात्र है। उसकी इस सांकेतिकता के सन्दर्भ में ही उसकी सत्यता-असत्यता का विचार किया जा सकता है। जो भाषा अपने कथ्य को जितना अधिक स्पष्ट रूप से संकेतित कर सकती है वह उतनी ही अधिक सत्य के निकट पहुँचती है। भाषा की सत्यता और असत्यता उसकी संकेत शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। शब्द-अर्थ (वस्तु या तथ्य) के संकेतक हैं वे उसके हू-ब-हू (यथार्थ) प्रतिबिम्ब नहीं हैं। शब्द में मात्र यह सामर्थ्य रही हुई है कि वे श्रोता के मनस् पर वस्तु का मानस प्रतिबिम्ब उपस्थित कर देते हैं। अतः शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब तथ्य का संवादी है, उससे अनुरूपता रखता है तो वह कथन सत्य माना जाता है। यद्यपि, यहाँ भी अनुरूपता वर्तमान मानस प्रतिबिम्ब और पूर्ववर्ती या परवर्ती या परवर्ती मानस प्रतिबिम्ब में ही होती है। जब किसी मानस प्रतिबिम्ब का सत्यापन परवर्ती मानस प्रतिबिम्ब अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है और जब उसका सत्यापन पूर्ववर्ती मानस प्रतिबिम्ब से होता है तो स्वतः प्रामाण्य कहा जाता है; क्योंकि अनुरूपता या विपरीतता मानस प्रतिबिम्बों में ही हो सकती हैं। यद्यपि दोनों ही प्रकार के मानस प्रतिबिम्बों का आधार या उनकी उत्पत्ति ज्ञेय (प्रमेय) से होती है। यही कारण था कि वादिदेवसूरि ने प्रामाण्य (सत्यता) और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति को परतः माना था। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः करने का तात्पर्य यही है- इन मानस प्रतिबिम्बों का उत्पादक तत्त्व इनसे भिन्न है। कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि कथन के सत्यापन या सत्यता के निश्चय में शब्द द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब और तथ्य द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब में तुलना होती है। यद्यपि एकांत वस्तुवादी दृष्टिकोण यह मानेगा कि ज्ञान और कथन की सत्यता का निर्धारण मानस प्रतिबिम्ब की तथ्य या वस्तु से अनुरूपता के आधार पर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अनुरूपता भी वस्तुतः मानस प्रतिबिम्ब और वस्तु के बीच न होकर शब्द निर्मित मानस प्रतिबिम्ब और परवर्ती इन्द्रिय अनुभव के द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब के बीच होती है, यह तुलना दो मानसिक प्रतिबिम्बों के बीच है, न कि तथ्य और कथन के बीच। तथ्य और कथन दो भिन्न स्थितियाँ हैं। उनमें कोई तुलना या सत्यापन सम्भव नहीं है। शब्द वस्तु के समग्र प्रतिनिधि नहीं, संकेतक हैं और उनकी यह संकेत सामर्थ्य भी वस्तुतः उनके भाषायी प्रयोग (Convention) पर निर्भर करती है। हम वस्तु को कोई नाम दे देते हैं और प्रयोग के द्वारा उस “नाम” में एक ऐसी सामर्थ्य विकसित हो जाती है कि उस “नाम” में श्रवण या पठन से हमारे मानस में एक प्रतिबिम्ब खड़ा हो जाता है। यदि उस शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न वह प्रतिबिम्ब हमारे परवर्ती इन्द्रियानुभव से अनुरूपता रखता है, हम उस कथन को -“सत्य” कहते हैं। भाषा में अर्थ बोध की सामर्थ्य प्रयोगों के आधार पर विकसित होती है। वस्तुतः कोई शब्द या कथन अपने आप में न तो सत्य होता है और न असत्य This is a table— यह कथन अंग्रेजी भाषा के

जानकार के लिए सत्य या असत्य हो सकता है, किन्तु हिन्दी भाषा के लिए न तो सत्य है और न असत्य। कथन की सत्यता और असत्यता तभी सम्भव होती है, जबकि श्रोता को कोई अर्थ बोध (वस्तु का मानस प्रतिबिम्ब) होता है, अतः पुनरुक्तियों और परिभाषाओं को छोड़कर कोई भी भाषायी कथन निरपेक्ष रूप से न तो सत्य होता है और न असत्य। किसी भी कथन की सत्यता या असत्यता किसी सन्दर्भ विशेष में ही सम्भव होती है।

जैन दर्शन में कथन की सत्यता का प्रश्न

जैन दार्शनिकों ने भाषा की सत्यता और असत्यता के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। प्रज्ञापनासूत्र (पनवन्ना) में सर्वप्रथम भाषा को पर्याप्त भाषा और अपर्याप्त भाषा ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। पर्याप्त भाषा वह है जिसमें अपने विषय को पूर्णतः निर्वचन करने की सामर्थ्य है और अपर्याप्त भाषा वह है जिसमें अपने विषय का पूर्णतः निर्वचन, सामर्थ्य नहीं है। अंशतः, सापेक्ष एवं अपूर्ण कथन अपर्याप्त भाषा का लक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से पश्चात्य परम्परा की गणितीय भाषा टॉटोलाजी एवं परिभाषाएँ पर्याप्त या पूर्ण भाषा के समतुल्य मानी जा सकती है जबकि शेष भाषा व्यवहार अपर्याप्त या अपूर्ण भाषा का ही सूचक है। सर्वप्रथम उन्होंने पर्याप्त भाषा की सत्य और असत्य ऐसी दो कोटियाँ स्थापित कीं। उनके अनुसार अपर्याप्त की दो कोटियाँ होती हैं- (१) सत्य-मृषा (मिश्र) और (२) असत्य-अमृषा।

सत्य भाषा- वे कथन, जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं, सत्य कहलाते हैं। कथन और तथ्य की संवादिता या अनुरूपता ही सत्य की मूलभूत कसौटी है। जैन दार्शनिकों ने पाश्चात्य अनुभववादियों के समान ही यह स्वीकार किया है कि जो कथन तथ्य का जितना अधिक संवादी होगा, वह उतना ही अधिक सत्य माना जायेगा। यद्यपि जैन दार्शनिक कथन की सत्यता को उसकी वस्तुगत सत्यापनीयता तक ही सीमित नहीं करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आनुभविक सत्यापनीयता के अतिरिक्त भी कथनों में सत्यता हो सकती है। जो कथन ऐन्द्रिक अनुभवों पर निर्भर न होकर अपरोक्षानुभूति के विषय होते हैं उनकी सत्यता का निश्चय तो अपरोक्षानुभूति के विषय ही करते हैं। अपरोक्षानुभव के ऐसे अनेक स्तर हैं, जिनकी तथ्यात्मक संगति खोज पाना कठिन है। जैनदार्शनिकों ने सत्य को अनेक रूपों में देखा है। स्थानांग, प्रश्नव्याकरण, प्रज्ञापना, मूलाधार और भगवती-आराधना में सत्य के दस भेद बताये गये हैं:- १. जनपद सत्य, २. सम्मत सत्य, ३. स्थापना सत्य, ४. नाम सत्य, ५. रूप सत्य, ६. प्रतीत्य सत्य, ७. व्यवहार सत्य, ८. भाव सत्य, ९. योग सत्य, १० उपमा सत्य। अकलंक ने सम्मत सत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य के स्थान पर संयोजना सत्य, देश सत्य और काल सत्य का उल्लेख किया है। मूलाचार और भगवती-आराधना में योग सत्य के स्थान पर सम्भावना सत्य का

उल्लेख हुआ है। सत्य के इन दस भेदों का विवेचन इस प्रकार है-

१. जनपद सत्य- जिस देश में जो भाषा या शब्द व्यवहार प्रचलित हो, उसी के द्वारा वस्तु तत्त्व का संकेत करना जनपद सत्य है। एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जावेगा। बाईजी शब्द मालवा में माता के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि उत्तर प्रदेश में वेश्या के लिए। अतः बाईजी से माता का अर्थबोध मालव के व्यक्ति के लिए सत्य होगा, किन्तु उत्तर प्रदेश के व्यक्ति के लिए असत्य।

सम्मत-सत्य- वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना सम्मत-सत्य है, जैसे— राजा, नृप, भूपति आदि। यद्यपि ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों के सूचक हैं। जनपद-सत्य एवं सम्मत-सत्यप्रयोग सिद्धान्त (Use Theory) से आधारित अर्थबोध से सूचक हैं।

३. स्थापना सत्य- शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को राजा, वजीर आदि नामों से सम्बोधित करना स्थापना सत्य है। यह संकेतीकरण का सूचक है।

४. नाम सत्य- गुण निरपेक्ष मात्र दिये गये नाम के आधार पर वस्तु का सम्बोधन करना यह नाम सत्य है। एक गरीब व्यक्ति भी नाम से “लक्ष्मीपति” कहा जा सकता है, उसे इस नाम से पुकारना सत्य है। यहाँ भी अर्थबोध संकेतीकरण के द्वारा ही होता है।

५. रूप सत्य- वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूप सत्य है, चाहे वस्तुतः वह वैसा न हो, जैसे- नाटक में राम का अभिनय करने वाले व्यक्ति को “राम” कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना।

६. प्रतीत्य सत्य- सापेक्षिक कथन अथवा प्रतीति को सत्य मानकर चलना प्रतीत्य सत्य है। जैसे अनामिका बड़ी है, मोहन छोटा है आदि। इसी प्रकार आधुनिक खगोल विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी स्थिर है, यह कथन भी प्रतीत्य सत्य है, वस्तुतः सत्य नहीं।

७. व्यवहार- सत्य-व्यवहार में प्रचलित भाषायी प्रयोग व्यवहार सत्य कहे जाते हैं, यद्यपि वस्तुतः वे असत्य होते हैं-घड़ा भरता है, बनारस आ गया, यह सड़क बम्बई जाती है। वस्तुतः घड़ा नहीं पानी भरता है, बनारस नहीं आता, हम बनारस पहुँचते हैं। सड़क स्थिर है वह नहीं जाती है, उस पर चलने वाला जाता है।

८. भाव सत्य- वर्तमान पर्याय में किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव सत्य है। जैसे-अंगूर मीठे हैं, यद्यपि उनमें खट्टापन भी रहा हुआ है।

९. योग सत्य- वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग सत्य है; जैसे- दण्ड धारण करने वाले को दण्डी कहना या जिस घड़े में घी रखा जाता है उसे घी का घड़ा कहना।

१०. उपमा सत्य- यद्यपि चन्द्रमा और मुख दो भिन्न तथ्य हैं और उनमें समानता भी नहीं है, फिर भी उपमा में ऐसे प्रयोग होते हैं- जैसे चन्द्रमुखी, मृगनयनी आदि। भाषा में इन्हें सत्य माना जाता है।

वस्तुतः सत्य के इन दस रूपों का सम्बन्ध तथ्यगत सत्यता के स्थान पर भाषागत सत्यता से है। कथन-व्यवहार में इन्हें सत्य माना जाता है। यद्यपि कथन की सत्यता मूलतः तो उसकी तथ्य से संवादिता पर निर्भर करती है। अतः ये सभी केवल व्यावहारिक सत्यता के सूचक हैं, वास्तविक सत्यता के नहीं।

जैन दार्शनिकों ने सत्य के साथ-साथ असत्य के स्वरूप पर भी विचार किया है। असत्य का अर्थ है कथन का तथ्य से विसंवादी होना या विपरीत होना। प्रश्नव्याकरण में असत्य की काफी विस्तार से चर्चा है, उनमें असत्य के ३० पर्यायवाची नाम दिये गये हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ की चर्चा तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

अलीक- जिसका अस्तित्व नहीं है, उसको अस्ति रूप कहना अलीक वचन है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में इसे असत्य कहा है।

अपलाप- सद् वस्तु को नास्ति रूप कहना अपलाप है।

विपरीत- वस्तु के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करना विपरीत कथन है।

एकान्त- ऐसा कथन, जो तथ्य के सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ अन्य पक्षों या पहलुओं का अपलाप करता है, वह भी असत्य माना गया है। इसे दुर्नय या मिथ्यात्व कहा गया है।

इनके अतिरिक्त हिंसाकारी वचन, कटुवचन, विश्वासघात, दोषारोपण आदि भी असत्य के ही रूप हैं। प्रज्ञापना में क्रोध, लोभ आदि के कारण निःसृत वचन को तथ्य से संवादी होने पर भी असत्य माना गया है।

सत्य-मृषा कथन

वे कथन जिनका अर्थ उभय कोटिक हो सकता है, सत्य-मृषा कथन हैं। “अश्वत्थामा मारा गया” यह महाभारत का प्रसिद्ध कथन सत्य-मृषा भाषा का उदाहरण है। वक्ता और श्रोता इसके भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अतः जो कथन दोहरा अर्थ रखते हैं, वे मिश्र भाषा के उदाहरण हैं।

असत्य-अमृषा कथन

लोकप्रकाश के तृतीय सर्ग के योगाधिकार में बारह (१२) प्रकार के कथनों को असत्य-अमृषा कहा गया है^१। वस्तुतः वे कथन जिन्हें सत्य या असत्य को कोटि में नहीं रखा जा सकता, असत्य-अमृषा कहे जाते हैं। जो कथन किसी विधेय का विधान या निषेध नहीं करते, उनका सत्यापन सम्भव नहीं होता है और जैन आचार्यों ने ऐसे कथनों को असत्य-अमृषा कहा है, जैसे आदेशात्मक कथन। निम्न १२ प्रकार के कथनों को असत्य अमृषा-कहा गया है-

१. आमन्त्रणी

“आप हमारे यहां पधारें”, ‘आप हमारे विवाहोत्सव में सम्मिलित

हों”- इस प्रकार आमन्त्रण देनेवाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी कही जाती है। ऐसे कथन सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए ये सत्य या असत्य की कोटि से परे होते हैं।

२. आज्ञापनीय

“दरवाजा बन्द कर दो”, “बिजली जला दो”, आदि आज्ञा-वाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते। ए०जे० एयर प्रभृति आधुनिक तार्किकभाववादी विचारक भी आदेशात्मक भाषा को सत्यापनीय नहीं मानते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने समग्र नैतिक कथनों के भाषायी विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वे विधि या निषेध रूप में आज्ञासूचक या भावनासूचक ही हैं, इसलिए वे न तो सत्य हैं और न तो असत्य।

३. याचनीय-

‘यह दो’ इस प्रकार की याचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य और असत्य की कोटि से परे होती है।

४. प्रच्छनीय

यह रास्ता कहाँ जाता है? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायें? इस प्रकार के कथनों की भाषा प्रच्छनीय कही जाती है। चूँकि यह भाषा भी किसी तथ्य का विधि-निषेध नहीं करती है, इसलिए इसका सत्यापन सम्भव नहीं है।

५. प्रज्ञापनीय अर्थात् उपदेशात्मक भाषा

जैसे चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, आदि। चूँकि इस प्रकार के कथन भी तथ्यात्मक विवरण न हो करके उपदेशात्मक होते हैं, इसलिए ये सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते। आधुनिक भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिक नैतिक प्रकथनों का अन्तिम विश्लेषण प्रज्ञापनीय भाषा के रूप में ही करते हैं और इसलिए इसे सत्यापनीय नहीं मानते हैं, उनके अनुसार वे नैतिक प्रकथन जो बाह्य रूप से तो तथ्यात्मक प्रतीत होते हैं, लेकिन, वस्तुतः तथ्यात्मक नहीं होते; जैसे- चोरी करना बुरा है, उसके अनुसार इस प्रकार के कथनों का अर्थ केवल इतना ही है कि तुम्हें चोरी नहीं करना चाहिए या चोरी के कार्य को हम पसन्द नहीं करते हैं। यह कितना सुखद आश्चर्य है कि जो बात आज के भाषा-विश्लेषक दार्शनिक प्रस्तुत कर रहे हैं, उसे सहस्राधिक वर्ष पूर्व जैन विचारक सूत्र रूप में प्रस्तुत कर चुके हैं। आज्ञापनीय और प्रज्ञापनीय भाषा को असत्य-अमृषा कहकर उन्होंने आधुनिक भाषा-विश्लेषण का द्वार उद्घाटित कर दिया था।

६. प्रत्याख्याननीय

किसी प्रार्थी की माँग को अस्वीकार करना प्रत्याख्याननीय भाषा है। जैसे, तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा

नहीं दी जा सकती।

७. इच्छानुकूलिका

किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुकूलिका भाषा है। तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए, इस प्रकार के कार्य को मैं पसन्द करता हूँ। मुझे झूठ बोलना पसन्द नहीं है। आधुनिक नीतिशास्त्र का संवेगवादी सिद्धान्त भी नैतिक कथनों को अभिरुचि या पसन्दगी का एक रूप बताता है, और उसे सत्यापनीय नहीं मानता है।

८. अनभिग्रहीत

ऐसा कथन जिसमें वक्ता अपनी न तो सहमति प्रदान करता है और न असहमति, अनभिग्रहीत कहलाता है। जैसे, 'जो पसन्द हो, वह कार्य करो', 'जो तुम्हें सुखप्रद हो, वैसा करो' आदि। ऐसे कथन भी सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए इन्हें भी असत्य-अमृषा कहा गया है।

९. अभिग्रहीत

किसी दूसरे व्यक्ति के कथन को अनुमोदित करना अभिग्रहीत कथन है। जैसे- 'हाँ, तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए', ऐसे कथन भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते हैं।

१०. संदेहकारिणी

जो कथन द्व्यर्थक हो या जिनका अर्थ स्पष्ट न हो, संदेहात्मक

कहे जाते हैं। जैसे, सैन्धव अच्छा होता है। यहाँ वक्ता का यह तात्पर्य स्पष्ट नहीं है कि सैन्धव से नमक अभिप्रेत है या सिन्धु देश का घोड़ा। अतः ऐसे कथनों को भी न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।

११. व्याकृता

व्याकृता से जैन विचारकों को क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं होता है हमारी दृष्टि में व्याकृत का अर्थ परिभाषित करना ऐसा हो सकता है। वे कथन, जो किसी तथ्य की परिभाषाएं हैं, इस कोटि में आते हैं। आधुनिक भाष्यवादी विश्लेषण, दार्शनिकों की दृष्टि से कहें तो वे पुनरुक्तियाँ हैं। जैन विचारकों ने इन्हें भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा है, क्योंकि इनका कोई अपना विधेय नहीं होता है या ये कोई नवीन कथन नहीं करते हैं।

१२. अव्याकृता

वह भाषा जो स्पष्ट रूप से कोई विधि निषेध नहीं करती है, अव्याकृत भाषा है। यह भी स्पष्ट रूप से विधि-निषेध को अभिव्यक्त नहीं करती है। इसलिए यह भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आती है।

आज समकालीन दार्शनिकों ने भी आमंत्रणी, आज्ञापनीय, याचनीय, पृच्छनीय और प्रज्ञापनीय आदि कथनों को असत्य-अमृषा (असत्यापनीय) माना है। एयर आदि ने नैतिक प्रकथनों को आज्ञापनीय मानकर उन्हें (असत्यापनीय) माना है जो जैन दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के साथ संगतिपूर्ण है।